

## प्रमाण लक्षणोंकी तार्किक परम्परा

प्रमाणसामान्यलक्षणकी तार्किक परम्पराके उपलब्ध इतिहासमें कणाद-का स्थान प्रथम है। उन्होंने 'अदुष्टं विद्या' ( ६. २. १२ ) कहकर प्रमाण-सामान्यका लक्षण कारणशुद्धि मूलक सूचित किया है। अक्षपादके सूत्रोंमें लक्षणक्रममें प्रमाणसामान्यलक्षणके अभावकी त्रुटिको वात्स्यायन<sup>१</sup> ने 'प्रमाण' शब्दके निर्वचन द्वारा पूरा किया। उस निर्वचनमें उन्होंने कणादकी तरह कारणशुद्धिको तरक ध्यान नहीं रखा पर मात्र उपलब्धिरूप फलकी ओर नजर रखकर 'उपलब्धिहेतुत्व' को प्रमाणसामान्यका लक्षण बतलाया है। वात्स्यायनके इस निर्वचनमूलक लक्षणमें आनेवाले दोषोंका परिहार करते हुए वाचस्पति मिश्र<sup>२</sup> ने 'अर्थ' पदका संबन्ध जोड़कर और 'उपलब्धि' पदको ज्ञानसामान्यबोधक नहीं पर प्रमाणरूप ज्ञानविशेषबोधक मानकर प्रमाणसामान्यके लक्षणको परिपूर्ण बनाया, जिसे उदयनाचार्य<sup>३</sup> ने कुसुमाञ्जलिमें 'तौतमनयसम्मत' कहकर अपनी भाषामें परिपूर्ण रूपसे मान्य रखा जो पिछले सभी न्याय-वैशेषिक शास्त्रोंमें समानरूपसे मान्य है। इस न्याय-वैशेषिककी परम्पराके अनुसार प्रमाणसामान्यलक्षणमें मुख्यतया तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—

- १—कारणदोषके निवारण द्वारा कारणशुद्धिकी सूचना।
- २—विषयबोधक अर्थ पदका लक्षणमें प्रवेश।
- ३—लक्षणमें स्व-परप्रकाशत्वकी चर्चाका अभाव तथा विषयकी अपूर्वता-अनधिगतताके निर्देशका अभाव।

यद्यपि प्रभाकर<sup>४</sup> और उनके अनुगामी मीमांसक विद्वानोंने 'अनुभूति'

१. 'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि इति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् बोद्धव्यं प्रतीयते अनेन इति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः'—न्यायभा० १. १. ३.

२. 'उपलब्धिमात्रस्य अर्थाव्यभिचारिणः स्मृतेरन्यस्य प्रमाशब्देन अभिधानात्'—तात्पर्य० पृ० २१.

३. 'यथार्थानुभवो ज्ञानमनपेक्षतयेध्यते ॥ मितिः सम्यक् परिच्छित्तिः तद्वत्ता च प्रमावृता । तदयोग्यवच्छेदः प्राप्तायं गौतमे मते ॥'—न्यायकु०

४. १. ५. ।

४. 'अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्'—बृहती. १. १. ५.

भाषको ही प्रमाणरूपसे निर्दिष्ट किया है तथापि कुमारिल एवं उनकी परम्परा-वाले अन्य मीमांसकोंने न्याय-बशेषिक तथा बौद्ध दोनों परम्पराओंका संग्राहक ऐसा प्रमाणका लक्षण रचा है; जिसमें 'अद्भुतकारणारब्ध' विशेषणसे कणाद-कथित कारणबोधका निवारण सूचित किया और 'निर्बाधत्व' तथा 'अपूर्वार्थस्व' विशेषणके द्वारा बौद्ध परम्पराका भी समावेश किया।

“तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।

अद्भुतकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥”

यह श्लोक कुमारिलकचुंक माना जाता है। इसमें दो बातें खास ध्यान देने की हैं—

१—लक्षणमें अनधिगतबोधक 'अपूर्व' पदका अर्थविशेषणरूपसे प्रवेश।

२—स्व-परप्रकाशत्वकी सूचनाका अभाव।

बौद्ध परम्परामें दिङ्नाग<sup>३</sup> ने प्रमाणसामान्यके लक्षणमें 'स्वसंवित्ति' पदका फलके विशेषणरूपसे निवेश किया है। धर्मकीर्ति<sup>४</sup> के प्रमाणवार्तिकवाले लक्षणमें वात्स्यायनके 'प्रवृत्तिसामर्थ्य' का सूचक तथा कुमारिल आदिके निर्बाधत्वका पर्याय 'अविसंवादस्व' विशेषण देखा जाता है और उनके न्यायविन्दु-वाले लक्षणमें दिङ्नागके अर्थसारूप्यका ही निर्देश है (न्यायवि० १. २०.)। शान्तरक्षितके लक्षणमें दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दोनोंके आशयका संग्रह देखा जाता है—

१. 'औत्पत्तिकमिरा दोषः कारणस्व निवार्यते। अबाधोऽव्यतिरेकेण स्वतस्तेन प्रमाणात् ॥ सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा ॥' —श्लोकवा० औत्प० श्लो० १०, ११. 'एतच्च विशेषणत्रयमुपादानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अगृहीतमाहि ज्ञानं प्रमाणम् इति प्रमाणलक्षणं सूचितम्' —शास्त्रदी० पृ० १२३. 'अनधिगतार्थगन्तु प्रमाणम् इति भट्ट-मीमांसका आहुः' —सि० चन्द्रो० पृ० २०.

२. 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम् इति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।' —प्रमाणस० टी० पृ० ११.

३. 'स्वसंवित्तिः फलं चात्र तदरूपादर्धनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रामाण्यं तेन मीयते ॥' —प्रमाणस० १. १०.

४. 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः। अविसंवादनं शान्देव्यभिप्रायनिवेदनात् ॥' —प्रमाणवा० २. १.

“विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणाफलमिष्यते ।  
स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥”

—तत्त्वसं० का० १३४४ ।

इसमें भी दो बातें खास ध्यान देने की हैं—

१—अभी तक अन्य परम्पराओंमें स्थान नहीं प्राप्त ‘स्वसंवेदन’ विचारका प्रवेश और तद्द्वारा ज्ञानसामान्यमें स्व-परप्रकाशस्वकी सूचना ।

असङ्ग और वसुवन्धुने विज्ञानवाद स्थापित किया । पर दिङ्नागने उसका समर्थन बड़े जोरोसे किया । उस विज्ञानवादकी स्थापना और समर्थन-पद्धतिमें ही स्वसंविदितत्व या स्वप्रकाशस्वका सिद्धान्त स्फुटतर हुआ जिसका एक या दूसरे रूपमें अन्य दार्शनिकोंपर भी प्रभाव पड़ा—देखो **Buddhist Logic** vol. I. P. 12.

२—मीमांसककी त ६ स्पष्ट रूपसे अनधिगतार्थक ज्ञानका ही प्रामाण्य ।

श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों जैन परम्पराओंके प्रथम तार्किक सिद्धसेन और समन्तभद्रने अपने-अपने लक्षणमें स्व-परप्रकाशार्थक ‘स्व-परावभासक’ विशेषणका समानरूपसे निवेश किया है । सिद्धसेनके लक्षणमें ‘बाधविवर्जित’ पद उसी अर्थमें है जिस अर्थमें मीमांसकका ‘बाधवर्जित’ या धर्मकीर्तिका ‘अविसंवादि’ पद है । जैन न्यायके प्रस्थापक अकलंकने<sup>२</sup> कहीं ‘अनधिगतार्थक’ और ‘अविसंवादि’ दोनों विशेषणोंका प्रवेश किया और कहीं ‘स्वपरावभासक’ विशेषणका भी समर्थन किया है । अकलंक के अनुगामी माणिक्यनन्दी<sup>३</sup> ने एक ही वाक्यमें ‘स्व’ तथा ‘अपूर्वार्थ’ पद दाखिल करके सिद्धसेन-समन्तभद्रकी स्थापित और अकलंकके द्वारा विकसित जैन पर-

१. ‘प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।’ —न्याया० १. ‘तत्त्व-ज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।’ —आप्तमी० १०१. ‘स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्’—बृ० स्वयं० ६३.

२. ‘प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् ।’—अष्टश० अष्टस० पृ० १७५. उक्तं च—‘सिद्धं यत्र परापेक्षं सिद्धौ स्वंपररूपयोः । तत् प्रमाणं ततो नान्यदविकल्पमचेतनम् ।’ न्यायवि० टी० पृ० ६३. उक्त कारिका सिद्धिविनिश्चय की है जो अकलंक की ही कृति है ।

३. ‘स्वापूर्वार्थाव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।’ —परी० १. १

म्पराका संग्रह कर दिया। विद्यानन्द<sup>१</sup>ने अकलंक तथा माणिक्यनन्दी की उस परम्परासे अलग होकर केवल सिद्धसेन और समन्तभद्रकी व्याख्याको अपने 'स्वार्थव्यवसायात्मक' जैसे शब्दमें संगृहीत किया और 'अनधिगत' या 'अपूर्व' पद जो अकलंक और माणिक्यनन्दीकी व्याख्या में हैं, उन्हें छोड़ दिया। विद्यानन्दका 'व्यवसायात्मक' पद जैन परम्पराके प्रमाणलक्षणमें प्रथम ही देखा जाता है पर वह अक्षपाद<sup>२</sup>के प्रत्यक्षलक्षणमें तो पहिले ही से प्रसिद्ध रहा है। सन्मतिके टीकाकार अभयदेव<sup>३</sup>ने विद्यानन्दका ही अनुसरण किया पर 'व्यवसाय'के स्थानमें 'निर्णीति' पद रखा। वार्दा<sup>४</sup>देवसूरिने तो विद्यानन्दके ही शब्दोंको दोहराया है। आ० हेमचन्द्रने उपर्युक्त जैन-जैनेतर भिन्न-भिन्न परंपराओंका औचित्य-अनीचित्य विचारकर अपने लक्षणमें केवल 'सम्यक्', 'अर्थ' और 'निर्णय' ये तीन पद रखे। उपर्युक्त जैन परम्पराओंको देखते हुए यह कहना पड़ता है कि आ० हेमचन्द्रने अपने लक्षणमें काट-छोटेके द्वारा सशोधन किया है। उन्होंने 'स्व' पद जो पूर्ववर्ती सभी जैनाचार्योंने लक्षणमें सन्निविष्ट किया था, निकाल दिया। 'अवभास', 'व्यवसाय' आदि पदोंको स्थान न देकर अभयदेवके 'निर्णीति' पदके स्थानमें 'निर्णय' पद दाखिल किया और उमास्वाति, धर्मकीर्त्ति तथा मासर्वज्ञके सम्यक्<sup>५</sup> पदको अपनाकर अपना 'सम्यगर्थ-निर्णय' लक्षण निर्मित किया है।

आर्थिक तात्पर्यमें कोई खास मतभेद न होनेपर भी सभी दिग्म्बर-श्वेताम्बर आचार्योंके प्रमाणलक्षणमें शाब्दिक भेद है, जो किसी अंशमें विचारविकासका सूचक और किसी अंशमें तत्कालीन भिन्न-भिन्न साहित्यके अभ्यासका परिणाम है। यह भेद संक्षेपमें चार विभागोंमें समा जाता है। पहिले विभागमें 'स्व-परा-

१. 'तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता। लक्षण्येन गतार्थत्वात् व्यर्थ-मन्यद्विशेषणम् ॥' —तत्त्वार्थश्लो० १. १०. ७७. प्रमाणप० पृ० ५३.

२. 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।' —न्याय सू० १. १. ४.

३. 'प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम्।' —सन्मतटी० पृ० ५१८.

४. 'स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।' — प्रमाणन० १. २.

५. 'सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः।' —तत्त्वार्थ० १. १. 'सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः।' —न्यायवि० १. १. 'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्।' —न्यायसार पृ० १.

वभास' शब्दवाला सिद्धसेन-समन्तभद्रका लक्षण आता है जो संभवतः बौद्ध विज्ञानवादके स्व-परसंवेदनकी विचारछायासे खाली नहीं है, क्योंकि इसके पहिले आगम ग्रंथोंमें यह विचार नहीं देखा जाता । दूसरे विभागमें अकलंक-माणिक्यनन्दीका लक्षण आता है जिसमें 'अविसंवादि', 'अनधिगत' और 'अपूर्व' शब्द आते हैं जो असंदिग्ध रूपसे बौद्ध और मीमांसक ग्रंथोंके ही हैं । तीसरे विभागमें विद्यानन्द, अभयदेव और देवसूरिके लक्षणका स्थान है जो वस्तुतः सिद्धसेन-समन्तभद्रके लक्षणका शब्दान्तर मात्र है पर जिसमें अवभास के स्थानमें 'व्यवसाय' या 'निर्णीति' पद रखकर विशेष अर्थ समाविष्ट किया है । अन्तिम विभागमें मात्र आ० हेमचन्द्रका लक्षण है जिसमें 'स्व', 'अपूर्व', 'अनधिगत' आदि सब उद्गाकर परिष्कार किया गया है ।

ई० १६३६ ]

[ प्रमाण मीमांसा